Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education

Vol. IV, Issue VII, July-2012, ISSN 2230-7540

REVIEW ARTICLE

शिक्षक और समाज

www.ignited.in

Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education
Vol. IV, Issue VII, July-2012, ISSN 2230-7540

शिक्षक और समाज

Dr. Surinder Kumar

Asst. Prof., Hindi Department, Guru Nanak Khalsa College, Karnal

---------------------------♦-----------------------------

शिक्षा का मानव के विकास के साथ घनिष्ठ संबंध है। मानवीय सभ्यता के विकास की कहानी एक प्रकार से शिक्षा का इतिहास है। शिक्षा एक सतत् चलने वाली क्रिया–प्रक्रिया है, इसलिए माना जाता है कि मनुष्य आजीवन शिक्षार्थी बना रहता है, अर्थात् वह अंतिम सांस तक भी कुछ न कुछ सीखता रहता है। परन्तु ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्रा में नित–नये आविष्कारों ने औपचारिक शिक्षा की अवधारणा को बढ़ावा दिया है। औपचारिक शिक्षा में शिक्षक की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गई है। शिक्षक एक प्रकार से शिक्षा व्यवस्था की धुरी बन गया है। शिक्षा और उसके माध्यम से किये जाने वाले सभी प्रयासों का केन्द्र समाज है। समाज की उन्नति, सुख–समृद्धि, उत्थान और कल्याण के लिए शिक्षा को बढ़ावा दिया जा रहा है, इसलिए शिक्षक का सीधा व गहरा संबंध समाज से जुड़ता है। शिक्षक और समाज के संबंध परस्पर अन्योन्याश्रितता, आवश्यकता एवं महत्त्व, कर्त्तव्य एवं अधिकार तथा भूमिका को जानने से पहले शिक्षा, उसका स्वरूप, महत्त्व एवं प्रकृति को जानना आवश्यक है, क्योंकि इसको जाने बिना शिक्षक के कार्यों एवं उत्तरदायित्व को जानना संभव नहीं है।

शिक्षा : स्वरूप एवं परिभाषा :

मानव अपने जीवन को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से मार्ग प्रशस्तिकरण की जिस विधा का आलम्बन लेता है, उसमें शिक्षा की अहम् भूमिका होती है, इसलिए प्राचीन भारतीय ग्रंथों में भी शिक्षा की चर्चा विस्तृत रूप में मिलती है। आचार्य शंकर के अनुसार–विभिन्न प्रवृत्ति–प्रयोजकेष्ट साधनता ज्ञानाख्य–शिक्षायाः प्रयत्नः शिक्षणं कथ्यते। अर्थात् किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति में प्रयोजक तत्त्वों के इष्ट साधन ज्ञान या प्रयत्न को शिक्षा, शिक्षण या प्रशिक्षण कहते हैं। विद्या ग्रहण अर्थ में शिक्षा शब्द का प्रयोग देखकर पाणिनीय व्याकरण में 'शिक्षा–विद्यापादाने' का निर्देश किया गया है। आंग्लभाषा में प्रयुक्त 'म्कनबंजपवद' शब्द का सामान्य व सर्वमान्य अर्थ ष्जीम ंबज वि जमंबीपदह वत जतंपदपदहष है, जिसका अभिप्रायः शिक्षण अथवा प्रशिक्षण है, जिसके अन्तर्गत अध्यापक अध्येता को अपनी ओर से कुछ देता नहीं है, वरन् उसमें निहित नैसर्गिक गुणों को बाहर की ओर प्रकट करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। इसके लिए वृहदारण्यकोपनिषद्' में 'शिक्षेद्दयं दानं दयामिति' कहा गया है।

आधुनिक काल में भी अनेक शिक्षाशास्त्रियों, दार्शनिकों एवं समाजशास्त्रियों ने शिक्षा की परिभाषा निर्धारित करने का प्रयास है। कुछेक विद्वानों के विचार इस प्रकार है–विलमोट के अनुसार–पशिक्षा जीवन के लिए तैयारी या नौसिखियापन की अवस्था है।

प्लेटो के अनुसार–पशिक्षा उस सिद्वान्त की ओर बालकों को खींचने या मार्गदर्शित करने की प्रक्रिया है, जिसे एक देश के कानून तथा वृद्ध लोगों व न्याय परायण व्यक्तियों में अनुभवों के अनुसार उचित माना जाता हो।

स्पेन्सर के अनुसार–पशिक्षा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के लिए बालक को तैयार करने की प्रक्रिया के रूप में ही हमारे सामने उपस्थित होती है।

अपने समय के प्रसि(शिक्षाविद् एवं समाजशास्त्री दुर्युकेम ने शिक्षा को लेकर अनेक विद्वानों के विचारों को विश्लेषित कर अपना मत व्यक्त किया था, इसलिए उनके मत को भी जानना आवश्यक है–

पशिक्षा प्रौढ़ पीढ़ियों द्वारा सामाजिक जीवन के लिए अब तक तैयार न हुए व्यक्तियों पर डाला गया प्रभाव है। इसका उद्देश्य बालक में एक विशेष प्रकार की शारीरिक, बौ(िक तथा नैतिक अवस्थाओं को उभारना तथा विकसित करना होता है, जिन्हें विशेष राजनीतिक समाज चाहता है तथा जिनकी उस सामाजिक पर्यावरण को आवश्यकता होगी जिसमें एक व्यक्ति विशेष को रहना होगा। संक्षेप में, शिक्षा युवा पीढ़ी का एक सामाजिकरण ही है।

शिक्षक :

शिक्षक शिक्षा का प्रदाता व वाहक होता है। शिक्षा के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा एक बहुआयामी व गंभीर प्रक्रिया है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से शिक्षक शिक्षार्थियों में समाज के ही अस्तित्व की अनिवार्य अवस्था को तैयार करता है। शिक्षा की प्रकृति एवं स्वरूप को जानने से ही ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में शिक्षण को गुरु–गंभीर कार्य क्यों माना जाता रहा है। यह भी स्पष्ट है कि सीखने सिखाने की अन्तःक्रिया में जिन दो घटकों की प्रधानता निश्चित होती है, उनमें समाज के अभिन्न अंग के रूप में एक घटक विद्यार्थी और दूसरा उसके व्यक्तित्व को अपने व्यक्तित्व द्वारा निखारने वाला शिक्षक होता है। अधिगम की प्रक्रिया में जितना महत्त्व सीखने वाले का है, उससे कहीं अधिक सिखाने वाले का भी है। यही कारण है कि आज विद्यार्थी को शिक्षा के केन्द्र में रखने के बावजूद भी शिक्षक के महत्त्व को नकारा नहीं जा सका है।

शिक्षक के महत्त्व एवं पद की गरिमा को प्राचीनकाल में सम्यक् रूप से समझा एवं व्याख्यायित किया गया था। इस महनीय व्यक्तित्व को अपने भावों में गुम्पिफत करते हुए गर्ग–संहिता के ट्टषि ने कहा है–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरु साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरवेनमः।।

महानारायणोपनिषद् में भी गुरु की ब्रह्म–विष्णु और महेश का प्रतिरूप माना गया है–फ्गुरुः साक्षादादिनारायणः पुरुषः।य़ अन्यत्रा गुरु की महिमा को इस प्रकार कहा गया है–

ध्यानमूलं गुरोमूर्ति, पूजामूलं गुरोः पदम्।

मन्त्रामूल गुरोवाक्यं मोक्षमूलं गुरु कृपा।।

प्राचीन धर्म ग्रंथों में गुरु ;शिक्षकद्ध को जहाँ इतना सम्मान व महत्त्व दिया गया है, वहीं इस पद पर आसीन होने वाले के लिए एक आचार संहिता भी बताई गई है। दूसरों को ज्ञान व आचार की शिक्षा वही दे सकता है जो स्वयं इस पथ का पथिक हो। केवल नामधारी गुरु ;शिक्षकद्ध समाज को डुबाने का कार्य कर सकते हैं। श्रीमद् भागवत में स्पष्ट लिखा है–जो व्यक्ति परमोच्च कल्याण का मार्ग जानता हो उसे गुरुदेव की शरण लेनी ही चाहिए। गुरुदेव ऐसे हों जो शब्द ब्रह्म में वेदादि आदि शास्त्रों में निष्णात हो तथा नित्य निरन्तर परब्रह्म में प्रतिष्ठित रहते हों और जिनका चित्त पूर्णतया शान्त हो चुका हो–

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।।

यहाँ इसका अभिप्राय यह लिया जा सकता है कि शिक्षक अपने विषय का ज्ञाता हो तथा वह सदैव ज्ञान पिपासु बना रहे। यहाँ शिक्षक के विषय में कहे गये गुरु रविन्द्रनाथ टैगोर के शब्द बरबस याद आते हैं–फ्एक अच्छा अध्यापक वही हो सकता है जो आजीवन विद्यार्थी बनकर रहता है।य़

आधुनिक विद्वानों के मतों की समालोचना करते हुए दुयुकेम ने शिक्षक के कार्य–कर्त्तव्यों का निष्कर्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

फ्जिस प्रकार से पुजारी अपने देवता का दुभाषिया होता है, उसी प्रकार से शिक्षक अपने समय व अपने देश के महान् नैतिक विचारों का व्याख्याकार या दुभाषिया होता है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि शिक्षा सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति का एक सामाजिक साधन है–ऐसा साधन जिससे समाज अपने अस्तित्व को सुनिश्चित करता है। शिक्षक समाज का अभिकर्त्ता या एजेंट है, वह सांस्कृतिक संचार की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी भी है। यह उसी का कार्य है कि वह एक सामाजिक या नैतिक व्यक्ति का निर्माण करे। उसी के माध्यम से तो समाज अपने अनुरूप व्यक्ति की रचना करता है। यही शिक्षा का कार्य और गौरव है। शिक्षा एक नया व्यक्ति बनाती है।

शिक्षक और समाज :

शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य समाज एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। दुयुकेम ने शिक्षक को समाज का अभिकर्त्ता या एजेंट कहा है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि समाज को पृथक् करके शिक्षक और शिक्षार्थी के संबंधों की चर्चा करना संभव नहीं है। शिक्षक–शिक्षार्थी संबंधों के मध्य तत्त्वबोधक के रूप में जिस प्रणाली का विकास हुआ, उस प्रणाली के प्रवर्त्तकों के मानस–पटल पर अधिगम की प्रक्रिया में शिक्षक के महत्त्व एवं कर्त्तव्यों को लेकर अनेक जिज्ञासाओं ने जन्म लिया, यथा–शिक्षक मानव व्यक्तित्व के समग्र विकास में क्या भूमिका निभा सकता है? जन–जागरण में शिक्षक की क्या भूमिका है? भावी राष्ट्र–निर्माता के रूप में शिक्षक को क्यों महत्ता दी जाती है? गुरु गोविन्द से बड़ा कैसे है? इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढते–ढूँढते ही जाने–अनजाने में शिक्षक, शिक्षार्थी और समाज के त्रिकोणात्मक सम्बन्धों को विवेचित किया जाता है।

शिक्षक उस शिक्षार्थी को नया रूप देना चाहता है, जिस पर पहले ही समाज की अमिट छाप पड़ी होती है। शिक्षक को स्मरण रखना पड़ता है कि बालक समाज में रहते हुए ही सब कुछ अनुकरण द्वारा सीखता है। बालक जो कुछ सीखता है, उसे अपने वैयक्तिक हितों की पूर्ति के लिए आधार बनाता हुआ समाज के उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करता है। प्रयत्न की इस विधा को मूल्यों की कसौटी पर कसने के लिए उसे पथ प्रदर्शक के रूप में जिस व्यक्ति की आवश्यकता पड़ती है, उसे शिक्षक के रूप में समाज ने प्रतिष्ठित किया है। समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप विभिन्न सामाजिक परिप्रेक्ष्य से आये हुए बालकों को शिक्षक ज्ञान की अजस्रधारा में निमज्जन करता हुआ, उन्हें इस योग्य बनाता है कि वे अपने हित चिन्तन में आसक्त होते हुए व्यवसायिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सके और समाज के उत्कर्ष में अपनी अहम् भूमिका का निर्वाह कर सके। वे यह जान सकें कि समाज के उत्कर्ष में ही उनका उत्कर्ष और समाज के अपकर्ष में ही उनका अपकर्ष निहित है।

शिक्षक के लिए समाज का महत्त्व :

इसमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि शिक्षक भी समाज का एक अभिन्न अंग होता है, परन्तु व्यवसाय एवं प्रभाव की दृष्टि से वह अपना पृथक् अस्तित्व भी रखता है। जितना महत्त्व समाज के लिए शिक्षक है उतना ही महत्त्व शिक्षक के लिए समाज का भी है। सर्वप्रथम वह समाज ही है जिसकी उन्नति एवं उत्कर्ष के लिए उन विद्यार्थियों की आवश्यकता अनुभव होती है, जिनके अध्ययन–अध्यापन एवं संस्कार–निर्माण के लिए शिक्षक का पद प्रतिष्ठित किया जाता है। समाज के अभाव में किसी व्यवस्थित या औपचारिक शिक्षा प्रणाली की कल्पना नहीं की जा सकती है और इस प्रणाली के बिना शिक्षक का अस्तित्व गौण हो जाता है।

हम पूर्व में विस्तार से चर्चा कर आये हैं कि शिक्षा का उद्देश्य शिक्षार्थी को समाज के योग्य बनाना होता है। ऐसे में बिना समाज को जाने, शिक्षक अपनी नीति का निर्धारण नहीं कर सकता। समाज की आकांक्षा–आवश्यकता, गुण–दोष, रीति–रिवाज, परम्परा–रूढ़ियों एवं नीति–निर्णयों को जाने बिना प्रदान की गई शिक्षा किसी उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सकती। उद्देश्यहीन शिक्षा का प्रदाता शिक्षक कभी भी मान एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करता, जो शिक्षक पद का प्रथम गौरव होता है। उद्देश्यहीन शिक्षा को शिक्षण व्यवसाय की बहुत बड़ी त्रासदी माना जाता है जो वास्तव में स्वयं शिक्षक की त्रासदी होती है। इस त्रासदी से बचने के लिए शिक्षक को प्रथमतः समाज का अध्ययन करना पड़ता है।

किसी–न–किसी रूप में शिक्षण एक व्यवसाय भी होता है। समाज के सहयोग के बिना किसी व्यवसाय के सफल होने की कोई संभावना नहीं होती है। शिक्षक जहाँ समाज के लिए कल्याणकारी शिक्षार्थियों का निर्माण करता है, वहीं समाज भी उसके जीवनयापन का आधार बनता है। सुरक्षा एवं मान–सम्मान भी एक सामाजिक प्राणी को अपेक्षित रहता है।

www.ignited.in

कहना न होगा कि शिक्षक की ये सभी अपेक्षाएँ समाज के सहयोग से ही पूर्ण होती हैं।

समाज के नव निर्माण में शिक्षक की भूमिका :

शिक्षा मनुष्य को नवजीवन प्रदान करती है, इसलिए प्राचीनकाल से ही समाज की धारणा रही है कि वह अपने नागरिक को शिक्षा रूपी साधन द्वारा लाभान्वित करते हुए इस योग्य बनाये, जिससे वह जीवन–मूल्यों को समझकर आत्मसात् करता हुआ समाज के नव–निर्माण में अपना योगदान दे सके। यही कारण है कि गीता में ज्ञान व विद्या को सबसे पवित्रा माना गया है–'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रामिह विद्यते क्योंकि इसके द्वारा बुद्धि की संशयात्मक प्रवृत्ति का विनाश और निःश्रेयस प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है और यहीं से समाज के नव–निर्माण की शुरुआत होती है। एक ओर शिक्षा जहाँ ज्ञानात्मक अभिवृद्धि का साधन है वहीं दूसरी ओर मानव के सामाजिक एवं वैयक्तिक विकास का आधार भी है। यही कारण है कि शिक्षा को मानव समाज के हित–सम्पादन में एक अति विशिष्ट साधन के रूप में अभिव्यक्त किया गया है, जिसके अन्तर्गत मानव अपने भविष्य की संकल्पनाओं को संयोजित करता हुआ अपने मार्ग का स्वतः चयन करता है।

यह सच है कि समाज के नव–निर्माण में शिक्षा की महत्ती भूमिका होती है, तो इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा के संपादन एवं सम्प्रेषण का कार्य शिक्षक के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। समाज की आवश्यकता एवं युग की माँग को समझकर शिक्षा नीति–निर्धारित करने का सामर्थ्य केवल शिक्षक में होता है। शिक्षक अपने इस सामर्थ्य का सदुपयोग कर प्रभावहीन एवं अनावश्यक जड़ परम्पराओं एवं नीतियों को निरस्त करता हुआ उन मूल्यों का निर्माण एवं निदर्शन करता है, जो युग की माँग–पूर्ति करते हैं। शिक्षक वह बुद्धि जीवी होता है, जो बीज में ही वृक्ष की छाया देख लेता है। केवल समकालीन आवश्यकता ही नहीं बल्कि भविष्य की आवश्यकता को भी शिक्षक अपनी मेधा से जानकर उसे साभार करने का प्रयास करता है। यही कारण है कि शिक्षक की तुलना उस दीपक से की जाती है जो स्वयं जलकर दूसरों का पथ आलोकित करता है।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षक और समाज का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित वाला है। शिक्षक समाज का अंग होते हुए भी अपनी मेधा के कारण अपना पृथक् महत्त्व व पहचान रखता है। प्राचीन काल से ही समाज में उसकी स्थिति उच्च व मान वाली रही है। समाज को सही दिशा में ले जाने का गुरु भार भी शिक्षक के कंधों पर रहता है। अपने कर्त्तव्यों को भलि–भंति पहचानकर तत्परता से उनका पालन करने वाला शिक्षक ही समाज के लिए हितकारी एवं मान–सम्मान का पात्रा होता है।